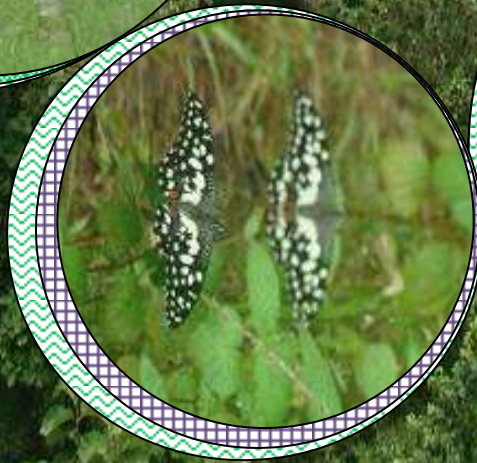




Van Sangyan

A monthly open access e-magazine



Tropical Forest Research Institute

(Indian Council of Forestry Research and Education)

PO RFRC, Mandla Road, Jabalpur – 482021

Van Sangyan

Editorial Board

Patron:	Dr. U. Prakasham, IFS
Vice Patron:	P. Subramanyam, IFS
Chief Editor:	Dr. N. Roychoudhury
Editor & Coordinator:	Dr. Naseer Mohammad
Assistant Editor:	Dr. Rajesh Kumar Mishra

Note to Authors:

We welcome the readers of Van Sangyan to write to us about their views and issues in forestry. Those who wish to share their knowledge and experiences can send them:

by e-mail to vansangyan_tfri@icfre.org
or, through post to The Editor, Van Sangyan,
Tropical Forest Research Institute,
PO-RFRC, Mandla Road,
Jabalpur (M.P.) - 482021.

The articles can be in English, Hindi, Marathi and Oriya, and should contain the writers name, designation and full postal address, including e-mail id and contact number.

TFRI, Jabalpur houses experts from all fields of forestry who would be happy to answer reader's queries on various scientific issues. Your queries may be sent to The Editor, and the expert's reply to the same will be published in the next issue of Van Sangyan.

From the Editor's desk



Silk is the only eco-friendly fibre made of proteins, the secretations of sericigenous insects, known as silk worm. This is one of the most important non timber forest produce and livelihood options of forest dwellers.

*This issue of Van Sangyan contains an article on Mulberry sericulture and silk production. There are also useful articles on statistical methods for forestry research, casualty of wild animals due to traffic movement on roads, community dependence on NTFPs, damage impact of termites, prioritization of *Pterocarpus santalinus*, some forestry species of Garha region of Jabalpur and, diversity of *Hedychium choronarum* and its exploitation.*

I hope that you would find all information in this issue relevant and valuable.

Readers of Van Sangyan are welcome to write to us about their views and queries on various issues in the field of forestry.

Looking forward to meet you all through forthcoming issues.

Dr. N. Roychoudhary

Chief Editor

Contents	Page
कीड़ों से रोजगार: पर्यावरण मित्र रेशम कीट पालन एवं उत्पादन: भाग दो-शहतूती रेशम - डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी	1
On Statistical Methods for Forestry Research - Girish Chandra and Raman Nautiyal	9
Road accident of Wild Animals by heavy traffic movement: A major threat to Faunal Biodiversity of the country - Dr. Sanjay Paunekar and Dr. Nitin Kulkarni	17
Community dependence on non timber forest products (NTFPs): Issues and challenges - Vikas Kumar	19
वाळवी : एक आर्थिकदृष्टया महत्वपूर्ण बहूभक्षी कीटक - शालिनी भोवते	23
A tree needed to be prioritized: <i>Pterocarpus santalinus</i> - Milkuri Chiranjeeva Reddy and Mhaiskar Priya Rajendra	27
जबलपुर के गढ़ा क्षेत्र की प्राकृतिक वनस्पतियाँ: एक धरोहर - सौरभ दुबे	29
Know Your Biodiversity: <i>Hedychium choronarium</i> - Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram	32

कीड़ों से रोजगार: पर्यावरण मित्र रेशम कीट पालन एवं उत्पादन भाग दो: शहतूती रेशम

डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी

उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

रेशम एक मूल्यवान वस्त्र है, जिसका सौन्दर्य पहनने वाला ही महसूस कर सकता है। यह अहसास ही रेशम के मूल्यवान होने का कारण भी है। रेशम और उससे बनने वाले उत्पाद अपने ऊँचे मूल्य के कारण अपने निर्माताओं के लिए आय के अच्छे स्रोत होते हैं। रेशम वास्तव में प्राकृतिक रेशा है। इस कपड़े की चमक, दरअसल रेशम रेशे के तिकोने प्रिज्म रूपी आकार के कारण होती है जिससे सूर्य की किरणें परावर्तित होती है। रेशम के उत्पादन अर्थात् खेती को सेरिकल्चर कहा जाता है।



शहतूत वृक्ष

शहतूत ग्रीष्म ऋतु में पाया जाता है। यह स्वाद तो देता ही है, साथ ही गर्मी के प्रकोप को कम करने में भी सहायक है। इसे अंग्रेजी में मलबरी कहा जाता है। यह फल बहुत कम मात्रा व बहुत कम दिनों के लिये ही बाजार में दिखता है। हरे शहतूत का स्वाद मीठा और लाल-जामुनी शहतूत का स्वाद खट्टा-मीठा होता है। इसमें 87.5 प्रतिशत पानी, 8.3 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, 1.5 प्रतिशत प्रोटीन, 0.4 प्रतिशत वसा और खनिज लवण, कैल्शियम, फास्फोरस, लोहा, निकोटिन व अन्य कई पौष्टिक तत्व प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। शहतूत का शर्बत खांसी, गले की खराश और टांसिल्ल को दूर करता

है। मनुष्य के लिये ही नहीं शहतूत पशुओं के लिये भी लाभदायक है। शहतूत के पत्ते खाने से पशु दूध अधिक देते हैं। शहतूत का शर्बत बनाने के लिये इसके फलों को धोकर इसके डंठल निकाले जाते हैं। फिर गूदे को मसलकर पानी में भींगने के लिये छोड़ दिया जाता है व दुबारा मसल कर छाना जाता है। इसके पश्चात इसमें चीनी व बर्फ मिलाकर इसे पिया जाता है।

शहतूती रेशम (Mulberry Silk) - शहतूत (मलबरी) पौधों की पत्ती खाकर रेशम-कृमि (कीड़ा) जो रेशम बनाता है, उसे शहतूती रेशम कहा जाता है। शहतूत की पत्तियां प्राप्त करने के लिए शहतूत के पौधों की खेती की जाती है। इस विधि में कृमि (कीड़ा) पालन घर के अन्दर किया जाता है। यह एक लाभदायक रोजगार है। रेशम उत्पाद के लिए ऐसी सिंचित भूमि होना आवश्यक है जिस पर शहतूत के पौधों को रोपित किया जा सके। एक उद्यमी के लिए लगभग डेढ़ एकड़ रकबा काफी है। शहतूत के पौधों की खासियत यही है कि इन्हें कहीं भी लगाया जा सकता है। इन पौधों को न तो किसी विशेष किस्म की मिट्टी की जरूरत होती है न ही कुछ विशेष वातावरण की। इस पेड़ की पत्तियाँ रेशम के कीड़ों का मुख्य भोजन होती है। शहतूत में



शहतूत फल

रेशम कीट का जीवन चक्र



यह पत्तियाँ एक निश्चित अनुपात में निरंतर उगती रहती है अतः कीड़ों के लिए भोजन की कोई समस्या नहीं रहती है । रेशम उत्पादन-औसतन 1000 कि. ग्रा. फ्रेश कोकून सुखाने पर 400 कि. ग्रा. के लगभग रह जाता है जिसमें से 385 कि. ग्रा. में प्यूपा 230 कि. ग्रा. रहता है और शेष 155 कि. ग्रा. शेल रहता है। इस 230 कि.ग्रा. प्यूपा में से लगभग 120 कि. ग्रा. कच्चा रेशम तथा 35 कि.ग्रा. सिल्क वेस्ट प्राप्त होता है।

इस कच्चे रेशम से रेशम को चरखे/तकली द्वारा रोल किया जाता है जिसे रीलिंग कहते हैं । रेशम तभी विक्री योग्य होता है , जब उसको कपड़े के रूप में बुन लिया जाए । बुनाई हेतु कई साधन आजकल प्रचलन में है फिर भी हथकरघा पर बने हुए रेशम का अच्छा बाजार मूल्य मिलता है । कुछ हथकरघा जैसे सेवाग्राम करघा , नेपाली करघा , चितरंजन करघा आदि प्रमुखता से उपयोग किये जाते हैं । हथकरघा आदि के लिए उद्यमी अपने क्षेत्र के प्रबंधक खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड से परामर्श ले सकते हैं ।

शहतूत एक बहुवर्षीय वृक्ष है । शहतूत वृक्षारोपण एक बार करने पर आगामी 15 वर्षों तक इससे उच्चगुणवत्ता की शहतूत पत्तियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है । अतः प्रथम शहतूत वृक्षारोपण

करते समय तकनीकी मापदण्डों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि कोया उत्पादन लागत में लगभग 50 प्रतिशत धनराशि शहतूत पत्तियों के उत्पादन में ही व्यय होता है । अतः यह आवश्यक है कि प्रति इकाई क्षेत्र में अधिकतम शहतूत पत्तियों का उत्पादन हो जिससे रेशम उद्योग से अधिकाधिक लाभ प्राप्त किया जा सके । ऐसी भूमि जो उसरीली न हो तथा जहां पानी का ठहराव न हो, एवं सिंचाई व्यवस्था हो, वहां शहतूत का पौधा लगाया जा सकता है, परन्तु बालुई-दोमट भूमि शहतूत वृक्षारोपण के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है । शहतूत वृक्षारोपण सामान्यतः जुलाई/ अगस्त एवं दिसम्बर/ जनवरी (सिंचाई सुविधा आवश्यक) में किया जाता है । मानसून की वर्षा से पूर्व भूमि की तैयारी प्रारम्भ की जाती है । जमीन की 30-35 से.मी. गहरी जुताई के साथ ही गोबर की सड़ी खाद भूमि में मिलाई जाती है । शहतूत की पौध तैयार करने की अनेक विधियां हैं जैसे शहतूत बीज द्वारा, शहतूत कटिंग द्वारा, लेयरिंग द्वारा, ग्राफ्टिंग द्वारा । उपरोक्त विधियों में से कटिंग द्वारा सरलता तथा न्यूनतम व्यय के आधार पर शहतूत पौध तैयार किये जा सकते हैं । इस विधि से पौध तैयार करने से



शहतूती इल्लियों का पालन

उसके पैतृक गुणों को संरक्षित किया जा सकता है । सफल वृक्षारोपण का आधार स्वस्थ पौध है । छः माह के समय में कटिंग द्वारा रोपित शहतूत पौध उचित देख-रेख से 3 -4 फीट उँची हो जाती है । इस

उँचाई की पौध वृक्षारोपण हेतु उपयुक्त होती है। शहतूत पौधालय की उचित देख-रेख एवं रख-रखाव द्वारा रोपित कटिंग से औसतन 75 प्रतिशत



शहतूत इल्ली

से 80 प्रतिशत पौध प्राप्त होती है, परन्तु कम लागत एवं अच्छी गुणवत्ता की पौध शहतूत की कटिंग से तैयार की जाती है। इस प्रचलित विधि में शहतूत की टहनियों (छ: से नौ माह पुरानी) से कटिंग तैयार की जाती है। टहनियों को 6 इंचसे 8 इंच लम्बी काट दी जाती है, जिसमें 4-5 कलियां हो। उक्त कटिंग का रोपण नर्सरी हेतु तैयार खेत में किया जाता है। कटिंग को जमीन में तिरछा गाड़ते हैं एवं उसके चारों ओर मिट्टी को दबाकर सिंचाई कर दी जाती है। कटिंग में उपलब्ध भोज्य पदार्थ के उपयोग से कुछ ही दिनों में कटिंग से पत्तियां निकल आती है एवं लगभग 6 माह में 3-4 फुट लम्बी शहतूत पौध तैयार हो जाती है, जो शहतूत वृक्षारोपण हेतु उपयुक्त होती है। सामान्यतः नर्सरी से कटिंग का रोपण जुलाई/ अगस्त अथवा दिसम्बर/ जनवरी में किया जाता है। जुलाई/ अगस्त में रोपित कटिंग से दिसम्बर/ जनवरी में पौधरोपण हेतु एवं दिसम्बर/ जनवरी में रोपित कटिंग से जुलाई/ अगस्त में पौध वृक्षारोपण हेतु प्राप्त होती है। प्रदेश में पौध आपूर्ति के दो स्रोत हैं। राजकीय शहतूत उद्यान एवं व्यक्तिगत क्षेत्र की किसान नर्सरी में उपरोक्त विधि से तैयार पौधों की आपूर्ति की जाती है।

सामान्यतः झाड़ीनुमा वृक्षारोपण में 3' x 3' की दूरी पर वृक्षारोपण किया जाता है। इस प्रकार एक एकड़ में लगभग 5000 पौध की आवश्यकता होती है। प्रथम वर्ष शहतूत वृक्षारोपण की स्थापना से एक वर्ष शहतूत पौध के विकास में लगता है। तीसरे वर्ष में उक्त वृक्षारोपण से समयान्तर्गत एवं समुचित मात्रा में खाद/ उर्वरक के प्रयोग एवं कर्षण कार्यों से एक एकड़ क्षेत्र से लगभग 8 से 10 हजार कि०ग्रा० प्रतिवर्ष शहतूत पत्ती का उत्पादन हो सकेगा। उक्त पत्ती पर वर्ष में 800-900 डी०एफ०एल्स०का कीट पालन किया जा सकता है, जिससे लगभग 300 कि०ग्रा०कोया उत्पादन हो सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सामान्यतः प्रति 100 डी०एफ०एल्स० रेशम कीट पालन हेतु 800-900 कि०ग्रा०शहतूत पत्ती की आवश्यकता होती है। प्रति कि०ग्रा० रेशम के उत्पादन पर लगभग 20 से 25 कि० ग्रा० पत्ती का उपयोग होता है। शहतूत पौध के वृक्षारोपण के



शहतूत कोयों का निर्माण

लगभग एक माह के पश्चात् वृक्षारोपण का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। जो पौध सूख गये हों, उनके स्थान पर नयी शहतूत पौध का रोपण किया जाता है। इसे गैप फिलिंग कहते हैं। गैप फिलिंग का कार्य वृक्षारोपण के पश्चात् एक या डेढ़ माह के अन्दर पूर्ण किया जाना चाहिए, अन्यथा बड़े पौधों के बीच छोटी पौध लगाने पर उसका विकास सही नहीं होता है। प्रति पेड़ पौध घटने से पत्ती का उत्पादन

एवं तदनुसार कोया उत्पादन घटता है। फलस्वरूप आय भी प्रभावित होती है।



शहतूत कोया

वृक्षारोपण के 2-3 माह उपरान्त वृक्षारोपण में 50 किग्रा० नाइट्रोजन का उपयोग प्रति एकड़ दर से किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ जुलाई/ अगस्त में स्थापित वृक्षारोपण सितम्बर/ अक्टूबर में एवं दिसम्बर/ जनवरी में स्थापित वृक्षारोपण में मार्च/ अप्रैल में उर्वरक का प्रयोग किया जाना चाहिए। शहतूत वृक्षारोपण के दो माह के उपरान्त एक हल्की गुड़ाई की जानी चाहिए। उसके उपरान्त पुनः निराई की जानी चाहिए। इसके पश्चात प्रत्येक कटाई/छंटाई (प्रूनिंग) के पश्चात गुड़ाई एवं निराई की जानी चाहिए।

मानसून काल में कराये गये वृक्षारोपण में प्राकृतिक वर्षा के कारण शरद काल में कराये गये वृक्षारोपण से कृषि लागत कम आती है। फिर भी वर्षाकाल में यदि 15-20 दिवस वर्षा न हो, तो वृक्षारोपण में कृषि सिंचाई की जानी आवश्यक है। सिंचाई की व्यवस्था माह मई के बीच अवश्य की जानी चाहिए। इस समय में 15-20 दिवस के अन्दर पर भूमि की किस्म के अनुरूप सिंचाई आवश्यक है। सामान्यतः शहतूत वृक्षारोपण में एक वर्ष में दो बार कटाई/छंटाई की जाती है। जून/जुलाई में निचली कटाई/छंटाई (जमीन के सतह से 6 इंच की ऊंचाई पर) एक दिसम्बर के मध्य कटाई/छंटाई (जमीन के सतह से 3 फीट की ऊंचाई पर) की जाती है।

अर्थात् शहतूत के पौधों की कटाई-छंटाई वर्ष में दो बार इस प्रकार की जाती है कि जिससे कीटपालन के समय पौष्टिक एवं प्रचुर मात्रा में शहतूत की पत्तियाँ कीटपालन हेतु उपलब्ध हो सकें। शहतूत की झाड़ियों का माह दिसम्बर में 3 फीट की ऊंचाई से कटाई/छंटाई की जाती है एवं मुख्य शाखाओं से निकली पतली शाखाओं को भी काटा-छाँटा जाता है। तत्पश्चात भूमि की गुड़ाई-निराई करते हुए रासायनिक खादों का प्रयोग किया जाता है कि रासायनिक खाद के प्रयोग में एवं कीटपालन हेतु पत्ती तोड़ने के समय के बीच 20 से 25 दिन का अन्तराल हो। इसी भाँति वर्षाकाल के प्रारम्भ में शहतूत की झाड़ियों को भूमि की सतह से 6 इंच से 9 इंच की ऊंचाई पर काट लिया जाता है एवं गुड़ाई/ खाद का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है एवं प्रूनिंग करते समय इस बात की सावधानी रखी जाती है कि शहतूत टहनियों को क्षति न पहुँचे एवं इसकी छाल भी न उखड़े। वृक्षनुमा शहतूत पेड़ों में वर्ष में एक बार कटाई/छंटाई माह दिसम्बर में की जानी चाहिए।



शहतूत कोया

पौधालय स्थापना हेतु बालुई दोमट अथवा दोमट मिट्टी सिंचाई सुविधायुक्त लगभग 7.00 पी. एच. तक की भूमि का चयन किया जाय। भूमि समतल होना चाहिए। भूमि तक पानी आने एवं अधिक मात्रा में होने पर पानी की निकासी का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। चयनित भूमि बाढ़गस्त क्षेत्रों में न हो। भूमि ने वर्षा का पानी एकत्रित नहीं होना

चाहिए। पौधालय भूखण्ड की जुताई के पहले आवश्यकतानुसार सिंचाई कर गुड़ाई के लिए



शहतूत प्यूपा

उपयुक्त बनाना चाहिए। जुताई/ गुड़ाई के समय लगभग 5-8 टन प्रति एकड़ गोबर की सड़ीखाद/कम्पोस्ट अच्छी तरह मिला दिया जाना चाहिए। यदि भूखण्ड में दीमक के प्रकोप की सम्भावना हो तो गोबर की खाद के साथ-साथ लगभग 100 कि०ग्रा० बी०एच०सी० पाउडर 20 प्रतिशत एल्डीन 5 प्रतिशत दीमक की रोकथाम के लिए मिट्टी में मिलाया जाना चाहिए। भूमि की गहरी जुताई/ गुड़ाई लगभग 30 से 45 सेमी. गहरी, दो बार मिट्टी पलटने वाले हल से अथवा कुदाली से की जानी चाहिए। गुड़ाई की हुई भूमि से खरपतवार कंकड़-पत्थर निकाल कर समतल कर लिया जाय। समतल की हुई भूमि को आवश्यकतानुसार सिंचाई की सुविधा के लिये छोटी-छोटी क्यारियों में तैयार किया जाना चाहिए।

उन्नति प्रजाति की शहतूत छट्टियों (6 माह से एक वर्ष तक पुरानी) कटिंग हेतु प्राप्त करनी चाहिए। टहनियों/छट्टियों को छाया में पेड़ के नीचे रखना चाहिए जिससे सूखने न पाये। टहनियों से पेंसिल अथवा तर्जनी की मोटाई की कटिंग तैयार किया जाना चाहिए जिसमें कम से कम तीन चार बड़ हो। कटिंग के सिरे लगभग 45 डिग्री कोण तेज धार के औजार से काटे जायें, जिससे सिरे पर छाल निकल जाये। यदि कटिंग तुरन्त लगाने की स्थिति में न हो

तो कटिंग की गड्डियों को उलटा कर गहरी क्यारी अथवा गडढे में लाइनों में लगाकर उस पर मिट्टी की हल्की परत डालकर फव्वारे द्वारा प्रतिदिन हल्का-हल्का पानी डालें ताकि नमी बने रहे व सूखने न पाये। आवश्यकतानुसार इस उल्टी कटिंग के बंडलों को निकालकर सीधा खेत में रोपित करना चाहिए।

भूमि की तैयारी के उपरान्त क्यारियों अथवा रेज्ड वेड को तैयार कर लिया जाये। क्यारी अथवा रेज्ड वेड में छः-छः इंच की दूरी पर लम्बाई में लाईन बना लें। तैयार की गई कटिंग को लगभग 2/3 भाग 3.00 इंच की दूरी पर लाईनों में गहरा गाड़ दें। कटिंग रोपड़ के बाद कटिंग के चारों ओर की मिट्टी को दबा दिया जाये ताकि खाली जगह में हवा जाने से सूखने की सम्भावना न हो। कटिंग रोपण के बाद गोबर की भुरभुरी खाद की एक पतली परत क्यारी में फैलाकर तुरन्त सिंचाई अवश्य की जानी चाहिए। प्रथम माह में कटिंग रोपित क्यारी में मिट्टी की ऊपरी परत सूखने पर पानी दिया जाय जिससे नमी बनी रहे। कटिंग रोपण के समय क्यारी में 8-10 लाईनों के रोपण के पश्चात एक फिट स्थान छोड़कर कटिंग रोपण किया जाए जिससे निराई करने में आसानी हो। एक एकड़ पौधालय पर लगभग 100 कि०ग्रा० यूरिया उचित विकास हेतु उपयुक्त होता है। इसका प्रयोग 4 से 6 बार लगभग 15-20 दिवस के अन्तराल पर पत्तियों को बचाते हुए किया जाना चाहिए। तत्पश्चात तुरन्त सिंचाई की जानी चाहिए। रासायनिक उर्वरक का प्रथम प्रयोग पौधों में 6-8 पत्तियों की अवस्था आने पर किया जाना चाहिए। समय पर निरीक्षण कर यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि कीटों द्वारा पौधों को कोई हानि तो नहीं पहुंचाई जा रही है। दीमक के प्रकोप में एल्डीन का छिड़काव उपयोगी होता है। कटिंग से तैयार पौधों को 6 माह के उपरान्त ट्रान्सप्लान्ट करना चाहिए। तैयार पौधों को नर्सरी से निकालते

समय इस बात पर ध्यान दिया जाय कि पौधों की जड़ों को कोई नुकसान न पहुंचे। उपरोक्तानुसार कटिंग रोपण से प्रति एकड़ लगभग 2.00 से 2.25 लाख कटिंग का रोपण नर्सरी से किया जा सकता है। मलबरी रेशम कीट को विभिन्न जलवायु स्थितियों और विस्तृत क्षेत्रवाली मिट्टी में उगाया जा सकता है। बेहतर पद्धतियों को अपनाकर कोकून की अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। लेकिन इसके लिए अधिक ऊपज देनेवाली उत्तम किस्म की पत्ती का होना आवश्यक है। रेशम कीट का पालन लार्वा अवधि के दौरान पाँच विभिन्न चरणों से होते हुए होती है। लार्वा अवधि में उसे विशेष रूप से निर्मित रेशम कीटपालन शेड में रखा जाता है। साथ ही, उच्च कोटि का रेशम प्राप्त करने के लिए उचित समय पर प्रबंध और गहन देखभाल की जाती है।

पालन अवधि के दौरान रेशम कीट को काफी सावधानी पूर्वक देखभाल की जाती है और उसके भोजन के लिए उत्तम किस्म के मलबरी पत्ते का इस्तेमाल किया जाता है। बेहतर वातावरण का निर्माण और कृमि व बीमारियों से रक्षा इनके पालन की अन्य आवश्यक शर्तें हैं। रेशम कीट के लिए अनुकूल स्थितियाँ प्रदान करने के लिए एक अलग से पालन घर और पालन उपकरण व साधनों की आवश्यकता होती है। एक साल में 5 से 10 फसलों का पालन किया जा सकता है और प्रत्येक फसल की जीवन अवधि लगभग 70-80 दिनों की होती है।

वी-1 और एस-36 मलबरी प्रजाति उच्च ऊपज देने वाली मलबरी प्रजाति है और रेशम कीटपालन के लिए अत्यंत उपयुक्त है। ये दोनों प्रजाति पोषक पत्ती प्रदान करती है जो रेशम कीटपालन में लार्वा के लिए अत्यंत आवश्यक है। एस- 36 प्रजाति की पत्तियाँ हृदय आकार की मोटी और हल्के हरे रंग के साथ काँतियुक्त होती है। पत्तियों में उच्च आर्द्रता होती है तथा उसमें अधिक पोषक तत्व होते हैं।

प्रतिवर्ष एक एकड़ में लगभग 15 हज़ार से 18 हज़ार किलोग्राम मलबरी पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। वी-1 प्रजाति वर्ष 1997 के दौरान जारी की गई और खेती में काफी लोकप्रिय है। इसकी पत्तियाँ अण्डाकार, बड़े आकार की, मोटी, आर्द्रता लिए हुए गहरे हरे रंग की होती है। इससे एक वर्ष में लगभग 20-24 हज़ार किलोग्राम मलबरी पत्तियाँ प्राप्त की जा सकती है।

वृक्षारोपण दो कतारों में किया जा सकता है जहाँ 60 सें.मी X 60 सें. मी. की दूरी उपयुक्त होती है। वृक्षारोपण की दोहरी कतार के बीच जगह होने से अंतर कृषि गतिविधि तथा पत्तियों के परिवहन हेतु पावर टिलर का उपयोग किया जा सकता है। इसके द्वारा ड्रिप सिंचाई सुविधा होती है। प्रति एकड़ अधिक संख्या में वृक्षों को लगाया जा सकता है। आसानी से एवं शीघ्रता पूर्वक पत्तियों को ले जाया जा सकता जो आर्द्रता हानि की संभावना को कम करता है। डंठल कटाई (शूट हार्वेस्टिंग) से 40 प्रतिशत तक श्रम की बचत होती है। प्रति हेक्टेयर 8 मीट्रिक टन की दर से साल में दो बार गोबर की खाद का प्रयोग करना चाहिए। मलबरी केवी-1 प्रजाति के लिए एन पी के का प्रयोग 350:140 :140 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से तथा मलबरी के एस-36 प्रजाति के लिए 300 :120:120 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से प्रतिवर्ष 5 बराबर भागों में बाँटकर करना चाहिए। सप्ताह में एक बार 80 से 120 मिलीमीटर की दर से सिंचाई करना चाहिए। पानी की कमी होने की स्थिति में किसान ड्रिप सिंचाई का प्रयोग कर 40 प्रतिशत पानी की बचत कर सकते हैं।

मलबरी रेशम कीटपालन एक पूर्णतः घरेलू व्यवसाय है। इसके लिए 24-28 डिग्री सेल्सियस के बीच तापमान और 70-80 प्रतिशत आर्द्रता वाले मौसम की जरूरत होती है। इसलिए क्लिफायती ठंड वातावरण बनाये रखने के लिए दीवार व छत की

बनावट के लिए उपयुक्त सामग्री का चयन, भवन का अभिसरण, निर्माण पद्धतियाँ, डिज़ाइन इत्यादि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उस स्थान की साफ-सफाई और रोगमुक्तीकरण व्यवस्था भी अच्छी तरह होनी चाहिए। पालन के प्रकार और मात्रा के अनुसार पालन घर का आकार होनी चाहिए।

बीमारियाँ एवं रोकथाम

ग्रेसरी – यह रोग बोरोलिना वायरस से होता है। इस रोग के फैलने का कारण-प्रदूषित वातावरण, अनुपयुक्त शहतूत पत्ती, कीटों का उचित फैलाव न होना, कीटपालन कक्ष का तापक्रम एवं अपेक्षित आर्द्रता का अधिक होना है। इस रोग के लक्षण – रेशम कीट का शरीर फूलना, त्वचा का मुलायम होना, दूधिया शरीर एवं फोड़ने से दूधिया द्रव का निकलना, रेशम कीटों का कीटपालन बेड से निकलकर घूमना, कीटों की मृत्यु आदि हैं। **फ्लेचरी** यह रोग – स्मिथिया एवं अन्य वायरस, डिप्लोकोकस एवं अन्य बैक्टीरिया से होता है। इस रोग के फैलने का कारण - वायुजनित, प्रदूषित कीटाणु, प्रदूषित शहतूत की पत्ती, कीट पालन कक्ष एवं कीटपालन उपकरणों का विशुद्धीकरण विधिवत न होना एवं अनियमित तापक्रम हैं। इस रोग के लक्षण – कीट की शिथिलता, भूख कम लगना, वृद्धि दर कम होना, कीट की मृत्यु के बाद भूरे या काले रंग का द्रव निकलना आदि हैं। **मैटिन** यह रोग –स्ट्रेप्टोकाकस बैक्टीरिया एवं अन्य वायरस से होता है। इस रोग के फैलने का कारण – प्रदूषित पत्ती, कीटपालन कक्ष एवं उपकरणों का विशुद्धीकरण विधिवत न होना कीटपालन कक्ष का, अनियंत्रित तापमान एवं वायु संचरण की समुचित व्यवस्था न होना आदि हैं। इस रोग के लक्षण- सिर का फूलना एवं द्रव ओमित करना आदि हैं। **मसकार्डिन** यह रोग फंगस (बीनबेरिया, बेसियाना) से होता है। इस रोग के फैलने का कारण-प्रदूषित

पत्ती एवं उपकरण हैं। इस रोग के लक्षण - कीटों का शरीर कड़ा होना तथा सूखना, पैथोजन के रंग के अनुसार शरीर का रंग सफेद, हरा, पीला या लालहो जाता है। **पेब्रीन** - यह रोग नोसेमाबोम्बाईसिस एक बिजाणु से होता है। इस रोग के फैलने का कारण - बीमारी युक्त रेशम कीटाणु, प्रदूषित शहतूत पत्ती एवं प्रदूषित कीटपालन, उपकरण आदि हैं। इस रोग के लक्षण - आसामान्य मोल्टिंग, कीटपालन बेड में विभिन्न आकार के रेशम कीट, कीटों में भूख का अभाव, बीमारी की विभिन्न अवस्था में रेशम कीटों के शरीर पर काले रंग के धब्बे आदि हैं।

रेशम कीटाणुओं का सघन माइक्रोस्कोपिक परीक्षण, रेशम कीट पालन गृह एवं उपकरणों का सघन विशुद्धीकरण, बीमार रेशम कीट पाये जाने की दशा में बीमार कीटों को गहरे गड्ढे में दबाना। असामान्य मोल्टिंग अवस्था अथवा असामान्य रेशम कीट विकास की दशा में तुरन्त माइक्रोस्कोपिक परीक्षण कर आवश्यक निदान किया जाना चाहिए। बसन्त ऋतु की फसल (फरवरी/मार्च) के दौरान जब वातावरण 23-30 डिग्री सें. तापक्रम एवं 60-70 प्रतिशत अपेक्षित आर्द्रता होती है तो सम्भावित बीमारी ग्रसरी, मसकार्डिन हो सकती है। इनकी रोकथाम हेतु कीटपालन गृह का तापक्रम एवं अपेक्षित आर्द्रता अवस्थानुसार बनाये रखना चाहिए। बीमारी युक्त कीट को कीटपालन बेड से निकाल देना चाहिए। मसकार्डिन से ग्रसित कीटों को जला देना चाहिये। विजेता, आर. के. ओ. या लेबेक्स पाउडर का छिड़काव करना चाहिये। कीटपालन समाप्त होने के उपरान्त कीटपालन उपकरणों को 5 प्रतिशत ब्लीचिंग पाउडर घोल में न्यूनतम 5 मिनट डुबोते हुए सफाई करनी चाहिये।

ग्रीष्म ऋतु की फसल (अप्रैल/मई) के दौरान जब वातावरण 28 - 35 डिग्री सें. तापक्रम एवं 55-65 प्रतिशत अपेक्षित आर्द्रता होती है। सम्भावित

बीमारी फ्लेचरी, गैटींग हो सकती है। बीमारी की रोकथाम हेतु कीटपालन कक्ष का तापक्रम कम किया जाए तथा अपेक्षित आर्द्रता में वृद्धि की जानी चाहिए। रोगग्रस्त कीट को बेड से निकाल कर गड्डे में डाल कर मिट्टी से दबा दिया जाना चाहिए।

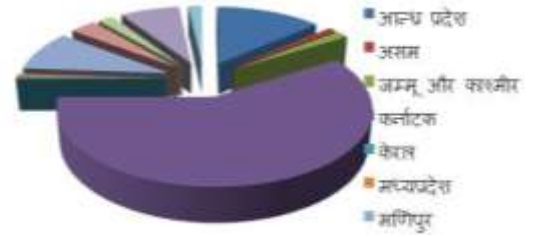
रेशम कीटों को दी जानी वाली पत्ती पौष्टिक तथा नमी युक्त होनी चाहिए। पत्ती संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। रेशम कीट औषधियों, विजेता अथवा आर.के.ओ. का नियमित प्रयोग किया जाना चाहिए। कीटपालन गृह में हवा के आवगमन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

मानसून फसल (अगस्त/सितम्बर) के दौरान जब वातावरण 30-35 डिग्री सं. तापक्रम एवं 90-95 प्रतिशत अपेक्षित आर्द्रता होती है। तब सम्भावित बीमारी ग्रेसरी एवं फ्लेचरी हो सकती है। बीमारी की रोकथाम हेतु कीटपालन कक्ष का तापक्रम एवं अपेक्षित आर्द्रता को नियंत्रित करने हेतु कक्ष की खिड़की एवं रोशनदान को आवश्यकतानुसार खुला रखा जाना चाहिए। अपेक्षित आर्द्रता को कम करने हेतु कीटपालन कक्ष की फर्श पर बुझे हुये चुने का छिड़काव किया जाना चाहिए। कीटों को खाने हेतु पत्ती आवश्यकतानुसार ही दी जानी चाहिये तथा प्रयास किया जाना चाहिये कि बेड मोटा न हो। अपेक्षाकृत कम नमी युक्त पत्ती कीटों को खाने हेतु देना चाहिये। रेशम कीट औषधियों, विजेता अथवा आर.के.ओ. का उपयोग मोल्ट के अतिरिक्त सभी अवस्थाओं में नियमित रूप से प्रयोग किया जाना चाहिये। रोग ग्रसित कीटों को तुरन्त कीटपालन बेड से निकाल कर गड्डे में दबा देना चाहिये। कीटपालन कक्ष एवं उसके आसपास के स्थानों में स्वच्छता का वातावरण रखना चाहिये।

पतझड़ फसल (अक्टूबर/नवम्बर) के दौरान जब वातावरण वातावरण 25-30 डिग्री सं. तापक्रम एवं 60-80 प्रतिशत अपेक्षित आर्द्रता होती है। तब सम्भावित बीमारी मसकार्डिन, ग्रेसरी हो सकती है

। बीमारी की रोकथाम हेतु कीटपालन गृह का तापक्रम एवं अपेक्षित आर्द्रता अवस्थानुसार बनाये

भारत के विभिन्न राज्यों में शहतूत उत्पादन (हे.)



रखना चाहिए। बीमारी युक्त कीट को कीटपालन बेड से निकाल देना चाहिए। मसकार्डिन से ग्रसित कीटों को जला देना चाहिये। विजेता, आर. के. ओ. या लेबेक्स पाउडर का छिड़काव करना चाहिये। कीटपालन समाप्त होने के उपरान्त कीटपालन उपकरणों को 5 प्रतिशत ब्लिचिंग पाउडर घोल में न्यूनतम 5 मिनट डुबोते हुए सफाई करनी चाहिये। यदि कीटपालन गृह का तापमान अपेक्षित तापमान से काफी कम हो जाए तो कीटपालन गृह को तापमान को वैकल्पिक साधनों से अपेक्षित स्तर तक लाने का प्रयास किया जाना चाहिये।

रेशम के बेहतर विपणन हेतु आवश्यक है कि रेशम में बेहतरीन चमक, मुलायामपन और लचीलापन हो इसलिए रेशम का धागा बुनने हेतु तकली/चरखा श्रेष्ठ है क्योंकि इनसे बुनाई करने के लिए कोकून केक को नम करना पड़ता है जिससे रेशम में उपरोक्त गुण उत्पन्न होते हैं। वस्त्र बाजार में रेशम अपनी मांग के अनुरूप उत्पादित नहीं हो पाता है, इसलिए रेशम का बाजार मूल्य काफी ऊँचा रहता है। साथ ही रेशमी उत्पाद का विदेशों में भी अच्छा बाजार होने से निर्यात के संभावनाएं काफी उज्वल हैं।

On Statistical Methods for Forestry Research

Girish Chandra and Raman Nautiyal

Division of Forestry Statistics, Indian Council of Forestry Research and Education,
PO - New Forest, Dehradun-248006.

Introduction

Forestry research, like in any other branch of science, is based on scientific method which commonly consists of a number of statistical methodologies. Starting with forest biometry as the development and application of statistical methods to assess, estimate and evaluate biological characteristic and process of forests, forest biometry has had a pervasive influence on forestry science. The sampling in forest survey in order to estimate the abundance of one or more forest resources has long had a probabilistic basis ranging from simple random sampling to multistage/multiphase designs making use of auxiliary information from aerial photography and satellite imagery. Statistically designed experiments with models are important in field experiments in order to gain a better understanding of trees, stand, and forest responses and minimized the biasness and experimental errors. Recently developed software like SAS, SPSS, R, Minitab etc. are the new advancement in analyzing the collected data in the most efficient away.

In forestry research, the basic statistical methods have their significant role to understand and apply the advanced techniques during and after the experiments. Complete ideas of measures of central tendencies, measures of dispersions are essential. The concept of probability is central to the science of statistics. As a subjective notion, probability can be interpreted as degree of belief in a continuous range between impossibility and certainty, about the occurrence of an event. Hypothesis is a tentative conjecture regarding the phenomenon under consideration. As a case of illustration, one may observe that the growing stock of trees in the borders of a plantation are better than trees inside. A simple hypothesis that could be formed from this fact is that the better growing stock of trees in the periphery is due to increased availability of sun light from the open sides. One may then deduce that by varying the spacing between trees and thereby controlling the availability of light, the trees can be made

to grow differently. This would lead to a spacing experiment wherein trees are planted at different espacements and the growth is observed. One may then observe that trees under the same espacement vary in their growth and a second hypothesis formed would be that the variation in soil fertility is the causative factor for the same. Accordingly, a spacing cum fertilizer trial may follow. Further observation that trees under the same espacement, receiving the same fertilizer dose differ in their growth may prompt the researcher to conduct a spacing cum fertilizer cum varietal trial. At the end of a series of experiments, one may realize that the law of limiting factors operate in such cases which states that crop growth is constrained by the most limiting factor in the environment. Analysis of variance (ANOVA) is basically a technique of partitioning the overall variation in the responses observed in an investigation into different assignable sources of variation, some of which are specifiable and others unknown. Further, it helps in testing whether the variation due to any particular component is significant as compared to residual variation that can occur among the observational units.

In the present note, we are concentrating about important sampling methodologies and models used in forest surveys. The calculation of forest mensurations and some measures for biodiversity are also discussed. Some of the examples for this note are taken from FAO (www.fao.org).

Forestry Sampling

In a broad sense all in situ studies involving noninterfering observations on nature can be called field surveys. These may be various purposes like estimation of population parameters under interest, comparison of different populations, finding interrelations of variables, studying movement pattern or distribution pattern of organisms etc. An excellent account of the earlier development of applications of different sampling methods in forestry has been provided by Chacko (1965). Some of the methodological issues of sample surveys in forestry are discussed below under the different contexts they arise.

(a) General Field Surveys:

In forestry research, we are typically categorizing a General Field Surveys category which commonly consists of resource surveys. Most of the resource surveys start with a stratification of the population into forest types as per Champion and Seth (1968) or density classes in the context of India. Systematic sampling is easier to execute and has got some theoretical disadvantages, the major one being that a precise estimate of variance is not obtainable unless there are at least two random starts. Plots (may nested) of convenient sizes (say 0.1 ha) are then laid out in the forest area. Sampling intensity may typically vary from 1 to 5 percent depending on the size and nature of the population. A special type of sampling known as point sampling has been in vogue in timber surveys for quite some time though its application is mostly restricted to plantations. This is essentially a probability proportional to size (PPS) sampling scheme. The trees are selected with probability proportional to their basal areas and distances from a fixed sampling point. Presently, ground surveys are increasingly getting replaced by remote sensing techniques and this trend is justifiable when we consider the large effort and time involved in traditional surveys.

(b) Rare and Endangered Species:

When carrying out rare and endangered plant assessment studies, the following situation may commonly encounter. In most of the sampled places, the species richness is low or negligible, but some places have few scattered pockets of high species richness are encountered. Under such situations Adaptive Cluster sampling (Thompson, 1990) is a powerful technique for parameter estimation when characteristics under interest is sparsely distributed but highly aggregated. Examples of such populations can be found in rare and endangered plant species, non timber forest products, mineral investigations (unevenly distributed ore concentrations), pollution concentrations and hot spot investigations, and epidemiology of rare diseases. In adaptive cluster sampling, neighbouring units of the selected initial units are added to the sample, whenever the value of the characteristic under study satisfies a pre-specified condition. The precision of adaptive cluster sampling can be enhanced by adopting appropriate sampling scheme for selecting the initial sample.

Horvitz Thompson and Hansen Hurwitz estimators are generally used under such designs. Roesch (1993) used the design for a survey of forest trees. Thompson and Seber (1996) described some examples of rare species, rare diseases and environmental pollution studies where the use of adaptive sampling scheme can be highly beneficial.

(c) Socio-economic surveys:

In forest surveys, often required to conduct the socioeconomic surveys for the forest dependent communities. Stratified multistage sampling plans are especially suitable for such surveys. The units can be conveniently stratified by size or income levels or even by administrative regions. The advantage is that the sampling frame need be prepared only for the selected subsampling units in a multistage sampling plan. When the sampling units largely differ in their sizes, adjusting the selection probabilities in proportion to the size may result in better estimates. Recently many research projects under this aspect are running by ICFRE, Dehradun including Identification of Extents of Forest Fringe Villages of India.

(d) Pest and disease surveys:

Generally, cluster sampling scheme is helpful for the pest and disease surveys in forests. At the first stage the classes of plantations can be taken. The sampling intensity in terms of number of trees in the case of a survey on the incidence of sal borer in different forest Divisions found to vary from 5 to 50 percent depending upon the variability in the infestation level existed in these geographic units (Mathew, 1989).

(e) Other important sampling techniques as per the conditions:

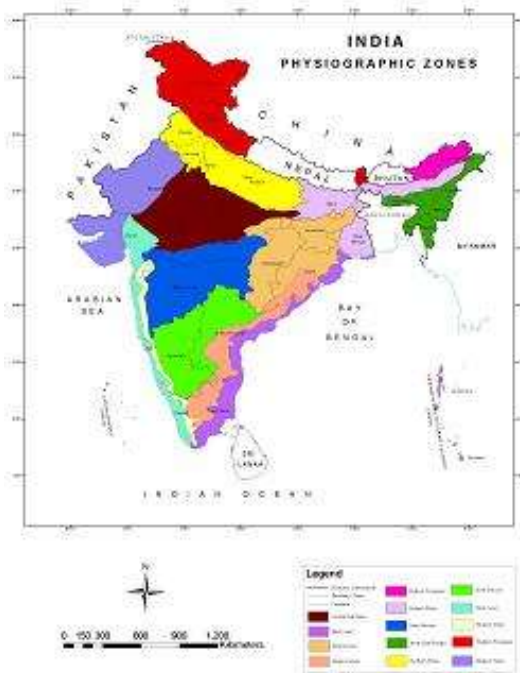
When the measurements of units are very costly and time consuming and there is heterogeneity between the units of the population, in such situations, Ranked Set Sampling (McIntyre, 1952) is a cost-effective and precise method for sample selection.

A different sampling method for studying spatial pattern is distance sampling wherein the distance to the nearest neighbouring individual is measured from a randomly located point or individual. But this does not provide an estimate of density unless the pattern is random and so has to be used in conjunction with quadrat sampling to measure

and test the degrees of randomness. Spatial patterns arising from the process of dispersal are amenable to be studied through diffusion theory and some of these models possess remarkable predictive ability.

(f) Forest Inventory:

Forest inventory has almost always relied on the sampling design as the basis of statistical inference. Forest inventory typically are intended to provide estimators of multiple attributes of the forest.



Forest Survey of India, Dehradun developed a methodology (available in India State of Forest Report 2013) for a comprehensive assessment of forest resources inside and outside forest areas at national level by stratifying the country into 14 physiographic zones and to take a sample of 10 percent districts for detailed inventory during a cycle of two years.

Modelling in Forest Surveys

A set of trees in a forest stand, producers and consumers in an economic system are examples of the components of the model. Growth and yield modelling is an essential prerequisite for evaluating the consequences of a particular management action on the future development of forest ecosystem and is, now a day, has been central theme of Forest Management. Prediction of growth or yield is

important because many management decisions depend on it. For instance, consider the question, is it more profitable to grow acacia or teak in central India. The answer to this question depends, apart from the price, on the expected yield of the species concerned in that site. The number of growth and yield models applicable to forests is rapidly increasing due to readily available efficient computing technology. Some of the important base models (height and age) in forest survey mentioned in Tiwari (2013) are as follows:

Chapman-Richards $H = b_0 [1 - \exp(-b_1 t)]^{b_2}$
solved by b2

Chapman-Richards $H = b_0 [1 - \exp(-b_1 t)]^{b_2}$
solved by b1

Korf $H = b_0 \exp(-b_1 / t^{b_2})$ solved by b1

Korf $H = b_0 \exp(-b_1 / t^{b_2})$ solved by b2

Hossfeld IV $H = b_0 / (1 + b_1 / t^{b_2})$ solved by b0
and assuming $b_1 = \beta / S$

Sloboda $H = b_0 \exp(-b_1 \exp[b_2 / (b_3 - 1) t^{(b_3 - 1)}])$
solved by b1

Chapman-Richards $H = b_0 [1 - \exp(-b_1 t)]^{b_2}$

solved by b0 and assuming $b_1 = b_3 (H_1 / t_1)^{b_4} t^{b_5}$

Here, H is the dominant height (m) at age t (years); t ranged from 5 to 20 years to reduce the mean squared error, and β , b0, b1, b2, b3, b4 and b5 are the parameters to be estimated. For most of the modelling purposes, ‘stand’ is considered as a unit of management. Stand is taken as a group of trees associated with a site. Some of the common measures of stand attributes are described here first before discussing the different stand models.

For most of the modelling purposes, ‘stand’ is considered as a unit of management. Stand is taken as a group of trees associated with a site. Some of the common measures of stand attributes are described here first before discussing the different stand models.

The most common measurements made on trees apart from a simple count are diameter at breast height (DBH) or girth at breast-height (GBH) and total height. Here, a few stand attributes that are derivable from these basic measurements and some additional stand features are briefly mentioned.

Canopy: The cover of branches and foliage formed by the crown of Trees

Canopy Density: It is the percentage area of land covered by the canopy of trees.

Mean diameter: It is the diameter corresponding to the mean basal area of a group of trees or a stand, basal area of a tree being taken as the cross sectional area at the breast-height of the tree.

Stand basal area: The sum of the cross sectional area at breast-height of trees in the stand usually expressed m² on a unit area basis.

Mean height: It is the height corresponding to the mean diameter of a group of trees as read from a height-diameter curve applicable to the stand.

Top height: Top height is defined as the height corresponding to the mean diameter of 250 biggest diameters per hectare as read from height diameter curve.

Site index: Projected top height of a stand to a base age which is usually taken as the age at which culmination of height growth occurs.

Stand volume: The aggregated volume of trees in the stand usually expressed in m³ on a unit area basis.

FAO described the models according to the degree of resolution of the input variables. Stand models can be classified as (i) whole stand models (ii) diameter class models and (iii) individual tree models. Though a distinction is made as models for even-aged and uneven-aged stands, most of the models are applicable for both the cases. Generally, trees in a plantation are mostly of the same age and same species whereas trees in natural forests are of different age levels and of different species. The term even-aged is applied to crops consisting of trees of approximately the same age but differences up to 25% of the rotation age may be allowed in case where a crop is not harvested for 100 years or more. On the other hand, the term uneven-aged is applied to crops in which the individual stems vary widely in age, the range of difference being usually more than 20 years and in the case of long rotation crops, more than 25% of the rotation.

Whole stand models predict the different stand parameters directly from the concerned regressor variables. The usual parameters of interest are commercial volume/ha, crop diameter and crop height. The regressor variables are mostly age, stand density and site

index. Since age and site index determine the top height, sometimes only the top height is considered in lieu of age and site index. Diameter class models trace the changes in volume or other characteristics in each diameter class by calculating growth of the average tree in each class, and multiply this average by the inventoried number of stems in each class. The volumes are the aggregated over all classes to obtain stand characteristics. Individual tree models are the most complex and individually model each tree on a sample tree list. Most individual tree models calculate a crown competition index for each tree and use it in determining whether the tree lives or dies and, if it lives, its growth in terms of diameter, height and crown size. A few models found suitable for even-aged and uneven-aged stands are described separately in the following.

Models for even-aged stands

Sullivan and Clutter (1972) provided three basic equations which form a compatible set in the sense that the yield model can be obtained by summation of the predicted growth through appropriate growth periods. More precisely, the algebraic form of the yield model can be derived by mathematical integration of the growth model. The general form of the equations is

$$\text{Current yield} = V_1 = f(S, A_1, B_1)$$

$$\text{Future yield} = V_2 = f(S, A_2, B_2)$$

$$\text{Projected basal area} = B_2 = f(A_1, A_2, S, B_1)$$

where S = Site index

V_1 = Current stand volume

V_2 = Projected stand volume

B_1 = Current stand basal area

B_2 = Projected stand basal area

A_1 = Current stand age

A_2 = Projected stand age

Nowadays there are a number of yield equations are available for different species, basal area and volume of even aged stands.

Models for uneven-aged stands

Sullivan and Clutter (1972) provided three basic equations which form a compatible set in the sense that the yield model can be obtained

Nowadays there are a number of yield equations are available for different species, basal area and volume of even aged stands.

Table: Data on number of trees/ha in three diameter classes at two successive measurements in natural forests.

Sampleplot	Number of trees /ha at Measurement - I			Number of trees/ha at Measurement - II		
	dbh class <10cm (y _{1t})	dbh class 10-60 cm (y _{2t})	dbh class >60 cm (y _{3t})	dbh class <10cm (y _{1t+q})	dbh class 10-60 cm (y _{2t+q})	dbh class >60 cm (y _{3t+q})
1	102	54	23	87	87	45
2	84	40	22	89	71	35
3	56	35	20	91	50	30
4	202	84	42	77	167	71
5	34	23	43	90	31	29
6	87	23	12	92	68	20
7	78	56	13	90	71	43
8	202	34	32	82	152	33
9	45	45	23	91	45	38
10	150	75	21	83	128	59

by summation of the predicted growth through appropriate growth periods. More precisely, the algebraic form of the yield model can be derived by mathematical integration of the growth model. The general form of the equations is

Current yield = V1 = f (S, A1, B1)

Future yield = V2 = f (S, A2, B2)

Projected basal area = B2 = f (A1, A2, S, B1)

where S = Site index

V1 = Current stand volume

V2 = Projected stand volume

B1 = Current stand basal area

B2 = Projected stand basal area

A1 = Current stand age

A2 = Projected stand age

Models for uneven-aged stands

Boungiorno and Michie (1980) present a matrix model in which the parameters represent (i) stochastic transition of trees between diameter classes and (ii) in growth of new trees which depends upon the condition of the stand. The model has the form

$$y_{1t+q} = \beta_0 + g_1(y_{1t} - h_{1t}) + g_2(y_{2t} - h_{2t}) + \dots + g_n(y_{nt} - h_{nt})$$

$$y_{2t+q} = b_2(y_{1t} - h_{1t}) + a_2(y_{2t} - h_{2t})$$

...

...

...

$$y_{nt+q} = b_n (y_{(n-1)t} - h_{(n-1)t}) + a_n (y_{nt} - h_{nt})$$

where y_{nt} gives the expected number of living trees in the i th size class at time t .

h_{nt} gives the number of trees harvested from i th size classes during a time interval.

g_i, a_i, b_i are coefficients to be estimated.

Here the number of trees in the smallest size class is expressed as a function of the number of trees in all size classes and of the harvest within a particular time interval. With the same time reference, the numbers of trees in higher size classes are taken as functions of the numbers of trees in adjacent size classes. It is possible to estimate the parameters through regression analysis using data from permanent sample plots wherein status of the number of trees in different diameter classes in each time period with a specified interval is recorded along with the number of trees harvested between successive measurements.

For an over-simplified illustration, consider the following data collected at two successive instances with an interval of $q = 5$ years from a few permanent sample plots in natural forests. The data given in following Table show the number of trees in three diameter classes at the two measurement periods. Assume that no harvesting has taken place during the interval, implying $h_i = 0, i = 1, 2, \dots, n$ to be zero. In actual applications, more than three diameter classes may be identified and data from multiple measurements from a large number of plots will be required with records of number of trees removed from each diameter class between successive measurements.

The equations to be estimated are,

$$y_{1t+q} = \beta_0 + g_1 y_{1t} + g_2 y_{2t} + g_3 y_{3t}$$

$$y_{2t+q} = b_2 y_{1t} + a_2 y_{2t}$$

$$y_{3t+q} = b_3 y_{2t} + a_3 y_{3t}$$

Using the multiple linear regression, the following estimates are obtained.

$$y_{1t+q} = 99.8293 - 0.0526 y_{1t} - 0.0738 y_{2t} - 0.1476 y_{3t}$$

$$y_{2t+q} = 0.7032 y_{1t} + 0.2954 y_{2t}$$

$$y_{3t+q} = 0.7016 y_{2t} + 0.2938 y_{3t}$$

Equations such as in above model have great importance in projecting the future stand conditions and devising optimum harvesting policies on the management unit as demonstrated by Boungiorno and Michie (1980).

Forest Mensuration

In several areas of forestry research the determination of the volume or biomass of trees are essential. Since the measurement of volume or biomass is destructive, one may resort to pre-established volume or biomass prediction equations to obtain an estimate of these characteristics. These equations are found to vary from species to species and for a given species, from stand to stand.

Determination of volume of any specified part of the tree such as stem or branch is usually achieved by cutting the tree part into logs and making measurements on the logs. For research purposes, it is usual to make the logs 3m in length except the top end log which may be up to 4.5m. But if the end section is more than 1.5m in length, it is left as a separate log. The diameter or girth of the logs is measured at the middle portion of the log, at either ends of the log or at the bottom, middle and tip portions of the logs depending on the resources available. The length of individual logs is also measured. The measurements may be made over bark or under bark after peeling the bark as required. The volume of individual logs may be calculated by using one of the formulae given in the following table depending on the measurements available.

Volume of the log	Remarks
$\frac{(b^2 + t^2)l}{8\pi}$	Smalian's formula
$\left(\frac{m^2}{4\pi}\right)l$	Huber's formula
$\frac{(b^2 + 4m^2 + t^2)l}{24\pi}$	Newton's formula

where b is the girth of the log at the basal portion

m is the girth at the middle of the log

t is the girth at the thin end of the log

l is the length of the log or height of the log

The data collected from sample trees on their volume or biomass along with the dbh and height of sample trees are utilized to develop prediction equations through regression techniques. For biomass equations, sometimes diameter measured at a point lower than breast-height is used as regressor variable. Volume or biomass is taken as dependent variable and functions of dbh and height form the independent variables in the regression. Some of the standard forms of volume or biomass prediction equations in use are given below.

$$y = a + b D + c D^2$$

$$\ln y = a + b D$$

$$\ln y = a + b \ln D$$

$$y^{0.5} = a + b D$$

$$y = a + b D^2 H$$

$$\ln y = a + b D^2 H$$

$$y^{0.5} = a + b D^2 H$$

$$\ln y = a + b \ln D + c \ln H$$

$$y^{0.5} = a + b D + c H$$

$$y^{0.5} = a + b D^2 + c H + d D^2 H$$

In all the above equations, y represents tree volume or biomass, D is the tree diameter measured at breast-height or at a lower point but measured uniformly on all the sample trees, H is the tree height, and a, b, c are regression coefficients, ln indicates natural logarithm.

Usually, several forms of equations are fitted to the data and the best fitting equation is selected based on measures like adjusted coefficient of determination or Furnival index. When the models to be compared do not have the same form of the dependent variable, Furnival index is invariably used.

n is the number of observations on the dependent variable and p is the number of parameters in the model

The Furnival index for each model is obtained by multiplying the corresponding values of the square root of mean square error with the inverse of the geometric mean. For instance, the derivative of ln y is (1/y) and the Furnival index in that case would be

$$\text{Furnival index} = \sqrt{MSE} \left(\frac{1}{\text{Geometric mean}(y^{-1})} \right)$$

Biodiversity Indices

Biodiversity is defined here as the property of groups or classes of living entities to be varied. Biodiversity manifests itself in two dimensions viz., variety and relative abundance of species (Magurran, 1988). The former is often measured in terms of species richness index which is,

$$\text{Species richness index} = \frac{S}{\sqrt{N}}$$

where S = Number of species in a collection

N = Number of individuals collected

The relative abundance is usually measured in terms of diversity indices, a best known example of which is Shannon-Wiener index (H).

$$H = - \sum_{i=1}^s p_i \ln p_i$$

where p_i = Proportion of individuals found in the i th species

The values of Shannon-Wiener index obtained for different communities H1 and H2

can be tested using Student's t test where t is defined as

$$t = \frac{|H_1 - H_2|}{\sqrt{\text{Var}(H_1) + \text{Var}(H_2)}}$$

which follows Student's t distribution with n degrees of freedom where

$$v = \frac{(\text{Var}(H_1) + \text{Var}(H_2))^2}{(\text{Var}(H_1))^2 / N_1 + (\text{Var}(H_2))^2 / N_2}$$

$$\text{Var}(H) = \frac{\sum p_i (\ln p_i)^2 - (\sum p_i \ln p_i)^2}{N} + \frac{S}{2}$$

Forestry Statistics of India at a Glance

important parameters like forest resources: area under forest cover, production of wood and non wood forest products, Protected Areas and Wildlife, Joint Forest Mangement Committees, International Trade in forest products etc. ICFRE also published First Forest Sector Report India 2010. These are available at www.icfre.org. Further, Forest Survey of India (FSI), a national organization under Ministry of Environment Forest and Climate Change, has mandated for assessing and monitoring the forest resources of the country periodically. The forest cover is being assessed using satellite images and following wall to wall approach every two years since 1980s. The detail on state/zonal/forest type wise forest cover, mangrove cover, tree cover, growing stock, forest inventory etc with methodologies are available in India State of Forest Report of Forest Survey of India (www.fsi.nic.in).

References

- Boungiorno, J. and Michie, B. R. (1980). A matrix model of uneven-aged forest management. *Forest Science*, 26(4): 609-625.
- Chacko, V. J. (1965). *A Manual on Sampling Techniques for Forest Surveys*. The Manager of Publications, Delhi
- Champion, H.G., and Seth, S.K. (1968). *A Revised Survey of the Forest Types of India*. Government of India, New Delhi.
- Magurran, A. E. (1988). *Ecological Diversity and its Measurement*. Croom Helm Limited, London. 179 p.
- Mathew, G, Rugmini, P. and Sudheendrakumar, V. V. (1998). Insect biodiversity in disturbed and undisturbed forests in the Kerala part of Western Ghats. *KFRI Research Report No. 135*, 113 p.
- McIntyre, G. A. (1952). A Method for Unbiased Selective Sampling Using Ranked Sets. *Australian Journal of Agricultural Research* 3, 385-390.
- Roesch, F.A., Jr. (1993). Adaptive Cluster Sampling for Forest Inventories. *Forest Science* 39, 655-669.
- Sullivan, A. D. and Clutter, J. L. (1972). A simultaneous growth and yield model for loblolly pine. *Forest Science*, 18: 76-86.
- Thompson, S.K. (1990). Adaptive Cluster Sampling. *Journal of the American Statistical Association* 85, 1050-1059.
- Thompson, S.K. and Seber, G.A.F. (1996). *Adaptive Sampling*. John Wiley and Sons, Inc.
- Tiwari, V. P. (2013): Modelling Growth and Yield in Trees and Stands. In *Proceedings of the national seminar, recent advances in applied statistics and its application in forestry*, (in press).

Road accident of wild animals by heavy traffic movement: A major threat to faunal biodiversity of the country

Dr. Sanjay Paunikar and Dr. Nitin Kulkarni

Forest Entomology Division, Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

India is recognized 12 mega hot spot biodiversity country in the world. India has unique and endemic species of wild animals, which are not found anywhere in the world. Wild animals are jewel and precious wealth of the Earth. Many wild animal species have spiritual significance in different cultures around the world and they and their products may be used as sacred objects in religious rituals. Many Nations have established their tourism sector around their natural wildlife. They are also plays a significant role to balance the ecosystem. But recent years, the populations of the wild animals are decline to number of reason such as destruction of their natural habitat, destruction of forest for agricultural purpose, mining, anthropogenic pressure, poaching, hunting, illegal trade of their body parts, indiscriminate uses of chemical pesticides and fertilizer in agricultural fields, climatic change, pollution, diseases, invasive species and killing on road and rail accident by heavy traffic movement further add to this loss.

Recent years, several road development activities of state and national highways are carrying out by National Highways Authority of India (NHAI, Ministry of Road Transport and Highways, Govt. of India) like expansion, conversion and diversion etc. for faster movement and transportation. In India,

motorized vehicle have enormously increased on the roads during last 20-25 years and resulted in heavy traffic on the state and national highways of the country. Several states and national highways are passing through national parks, wild life sanctuaries, biosphere reserves, protected and unprotected forest areas of the country. While, travelling by road through the forest areas, one can often see the number of animals like amphibian, reptiles, birds and mammals dead due to road accidents by uncontrolled vehicular traffic. These highways are the cause of death for number of wild animals and also exert adverse impacts on their population of wild animals of the country due to road accident by heavy vehicle traffic. It is also major threat to our rich and precious faunal biodiversity. Recently, the NGO Wildlife Protection Society of India (WPSI) reported several wild animals were killed due to road and rail accident by heavy vehicle in and around different forest areas of the country. Although, the recent case of train accident killing of seven elephant near Jalpaigudi in West Bengal state is out of coverage of paper, but it is one of the same kind.

It was found that the number of wild animals like Tiger (*Panthera tigris*) Leopard (*Panthera pardus*), Indian Jackal (*Canis aureus*), Indian fox (*Vulpes bengalensis*), Jungle cat (*Felis*

chaus), Wild boar (*Sus scrofa*), Common Civet Cat (*Paradoxurus hermaphroditus*), Indian Hare (*Lepus nigricolis*), Indian Gray Mongoose (*Herpestes edwardsii*), Antelope species like Spotted Deer (*Axis axis*), Nilgai (*Bosalepus tragocamelus*), Black Buck (*Antelope cervicapra*), primate species (Monkey, *Macaca mulatta* and Langur, *Semnopithecus entellus*) and other small mammals species dead on road due to heavy vehicle traffic. The birds species like common myna, dove, egrets, owls, vulture, common and jungle quails, crow, sparrow and some other birds species were also found dead on the road. The other small animals like amphibians (frog and toad) and many species of reptiles (snake, lizard and skink) were dead on the road due to accident by vehicle traffic. The literature showed some other countable studies on the road kill of animals by heavy vehicle in and around national parks, wild life sanctuaries, biosphere reserves, protected and

unprotected forest areas of the country. More attention has been given in developed countries like America and Europe to assess such impacts but developing country like India has not given the required attention to these aspects.

The several wild animal species come under Wild Life Protection Act. (1972) and listed different Schedules with their conservation status in the country. It is needed to save our rich faunal biodiversity by taking all the possible protection measure.

Although, road kill of wild fauna by heavy vehicular traffic needs to be discussed at appropriate forum the possible way out could be by displacing the wild life presence at the places of their abundance in the forest area along with other measures controlled like vehicle speed. The construction of flyover and alternate roads outside the forest area could also be another option.



Killing of Wild Animals on the Road by traffic movement

Community dependence on non timber forest products (NTFPs): Issues and challenges

Vikas Kumar

Department of Silviculture and Agroforestry, College of Forestry, Vellanikkara
Kerala Agricultural University, KAU, Thrissur, Kerala 680656, India

Forest resources have always been an important part of subsistence as well as livelihood for forest dwellers and rural communities for their survival starting from fire, shelter to food. Despite of the positive outcomes in terms of livelihoods and conservation connected with non timber forest products (NTFPs) remain elusive (Cunningham, 2011; Kumar et al., 2013) and the interaction between forest and forest dwelling communities has received increasing attention from social scientists and policy makers due to its significance from the view point of community welfare and sustainable forest management. This is particularly true in the case of benefits from non-timber forest products (NTFPs).

India has great wealth from NTFPs in its forests, its wetlands and in its marine areas containing many endemic plants and animals. In India's largest unorganized sectors having a dependent population of about 275 million (27 % of total population) and with a business turnover of more than Rs.6000 Crores per annum, the NTFP sector has however and unfortunately been neglected since the pre-Independence period (Malhotra and Bhattacharya, 2010; Bhattacharya and Hayat, 2009). National forest policies between 1950 and 1970 were mainly timber oriented. Concerned with the increasing depletion of forest biodiversity, the subsequent policies,

Wild Life (Protection) Act of 1972, Forest Conservation Act of 1980 and National Forest Policy of 1988 have reoriented the objectives by treating forest as environmental and social resource rather than as a mere revenue earning resource. The National Forest Policy was amended in 1988 followed by the establishment of joint forest management in the 1990. Community-based natural resource management (CBNRM) became the new paradigm and role of communities in resource management was recognized along with the market potential of biodiversity, capitalizing on indigenous knowledge. Later, with the increasing market demand for biological resources, when issues with equity, fairness and biopiracy became apparent, India responded by ratifying the Convention on Biological Diversity (CBD) in 1992 and the Biodiversity Act was implemented in 2002 (Vasan 2005). However, even with NTFPs, priority over high value resources remained with the state. More recently, in response to indigenous rights to property and access, the Forest Rights Act 2006, was implemented (MoEF) and is an ongoing activity.

Traditionally Non Timber Forest Products (NTFPs) refer to all biological materials other than timber extracted from natural forests for human and animal use and have both consumptive and exchange value. Globally NTFP / NWFP are defined as "forest products

consisting of goods of biological origin other than wood, derived from forest, other wood land and trees outside forests". NTFPs includes leaves of commercial importance; Fibers and Flosses; Grasses other than those used for oil extraction; bamboos and canes; essential oils; oil seeds; medicines, spices; tans and dyes; gums, resins and oleoresins; drugs, spices, poisons and insecticides; edible products; lac and tassar silk. NTFPs have a tremendous potential to create large scale employment opportunity thereby helping in reducing poverty and increasing empowerment of particularly tribal and poor people of the poorest and backward districts of the country. Otherwise known as the 'minor forest produce'(MFP) particularly implying to produces of plant origin with few exceptions, its actual contribution has been so major than in many of the State Forest Departments earn the major share of their income from these NTFPs/MFPs (like tendu leaves) particularly after green felling was banned. In absence of a comprehensive national/ central policy/ approach, contradictory legal provisions still prevail while differential state regimes create some of the biggest limitations which constrain a healthy growth of the NTFP sector. Numerous non-timber forest products (NTFPs) have ethnobotanical values on account of their medicinal, food and cultural significance. New uses connected with NTFPs are also being reported and getting documented for posterity. NTFPs constitute an important economic and natural resource, and are used for both family consumption and commercial trade (Kumar, 2014). They also meet social needs and contribute significantly to the livelihood of

rural residents. About 80% of the population of developing countries uses NTFPs to meet some of their health and nutritional needs. In many of the thickly populated tropical regions, poor people still collect a wide range of forest products to sustain and supplement their livelihoods and escape hunger and poverty. However, information on such collection efforts and utilization aspects remains unaccounted largely due to the scattered nature of such efforts. Depleting resource base either because of diversion of forest land for non-forest use, or due to unsustainable harvesting practices has been the major ecological challenge in the NTFP sector with growing and visible impacts of climate change on crop production. On the other hand, poor Research and Development activities focus, inadequate post-harvesting practices, insufficient funds and infrastructure, and unorganized nature of the trade have made it financially vulnerable particularly for the primary collectors whereas the differential and sometimes contradictory tax and transit regimes in the states have adversely affected not only the trade but even the production of NTFPs as in case of brood lac.

Environmental, economic and cultural importance of NTFPs

Environmental importance: In agro forestry ecosystem, cultivating NTFPs species helps in achieving environmental objectives such as conservation of watersheds, biological diversity and genetic resource. NTFPs is a possible "magic bullet" to solve deforestation issues and are important, ubiquitous, and culturally integral part of rural and urban lives

and must continue to be considered in forest management decisions.

Economic importance: In some areas, the financial impact of NTFPs may be greater than that of timber. For example, FAO (1997), it was estimated that the total value of world trade in NTFPs is approximately US \$ 1100 million. NTFPs market has grown by nearly 20 % annually over the last several years (Hammet, 1999).

Cultural importance: NTFPs are also of great cultural importance. Preservation of NTFPs is fundamental to maintenance and continuation of traditional ways of life. The field of herbal medicine and biomedical research are growing rapidly. Often people who used them traditionally studied the plants, their uses and techniques of harvesting and processing over generations. As these discoveries blossom into lucrative industries an equitable share of benefits is due to the people, communities and countries from which they originate.

Issues and Challenges:

- Absence of complimentary mechanism for NTFP crop failures.
- Absence of sustainable harvesting protocols.
- Adapting to Climate change.
- High exploitation and poor regeneration.
- Inadequate capacity and knowledge in NTFP management.
- Inadequate infrastructure, and post-harvesting facilities/skills.
- Inadequate NTFP baseline data and mapping, unclear demand supply scenario.
- Incompatible tax structure.
- Minimum Support Price (MSP) for NTFPs.

- Policy-level inconsistencies.
- Poor attention to NTFP conservation.
- Poor progress in research & development.
- Primary collectors losing interest in NTFP collection.
- Underperformance of public sector procurement & trade agencies.
- Unorganized sector.
- Volatile market.

Strategy: The NTFP management on sustainable basis has remained a complex process for the last several decades but in the present scenario, there is a need to adopt multipronged strategy, as under, to build up an environment to strengthen community based management and trade of NTFPs which in turn would strengthen the livelihood of poor forest dependent population

- Capacity development training, awareness building, exposure.
- Detailed inventory and prioritization of zone-wise species.
- Establishment of an apex body for NTFP development
- Food security and income generation for poverty alleviation.
- Forward and backward linkages /Organization of existing trade.
- Research and development.
- Resource augmentation plan /incentives for growing NTFP crops in private land.

Recommendations

- Awareness, social mobilization and capacity development.
- Development, infrastructure / enterprises/ marketing/minimum Support Price.
- Enabling policy and institutionalization.

- Identification, prioritization, standards, certification and value chain.
- Research and development.
- Resource augmentation through in-situ plantation and ANR / ex-situ cultivation (ha).

CONCLUSION

NTFPs collection is unlikely to generate positive outcomes for biodiversity conservation or poverty alleviation. The new laws giving rights of land and resource use, including NTFPs collection, to communities living within forests and protected areas are therefore probably misguided in terms of livelihoods and harmful to conservation in protected areas. I suggest that the Indian government considers provision of alternative farm-based livelihoods and investment in improved access to education for collectors and their families.

References

Bhattacharya, P. and Hayat, S.E. 2009. Sustainable NTFP Management for Livelihood and Income Generation of Tribal Communities: A case from Madhya Pradesh, India. (in) "Non timber Forest Products: Conservation Management and Policy in the Tropics". Ed. By Shaanker R. Uma, Ankita J. Hiremath, Gladwin C. Joseph & Nitin D. Rai.

Published by ATTREE & University of Agriculture Science, Bangalore pp. 21-34

Cunningham, A.B. 2011. "Non-timber Products and Markets: Lessons for Export-Oriented Enterprise Development From Africa" in S C Shackleton and P Shanley (ed.), Non-Timber Forest Products in the Global Context (Berlin Heidelberg: Springer-Verlag), pp 83-106.

Hammet, T. 1999. Special Forest Products: Identifying opportunities for sustainable forest-based development. Virginia landowner update, Virginia Tech: In agroforestry ejournal.

Malhotra, K.C. and Bhattacharya, P. 2010. Forest and Livelihood. Published by CESS, Hyderabad. pp.246

Vikas Kumar, Mehta, A.A. and Tripathi, S. 2014. Non-Timber Forest Products: Availability, Production, Consumption, Management, Marketing and Policy in Gujarat, India. LAP LAMBERT Academic Publishing, Germany.

Vikas Kumar. 2014. Impact of Non Timber Forest Produces (NTFPs) on rural tribes economy in Peechi Vazhani Wildlife Sanctuary, Western Ghats, Kerala. International Journal of Forest Usufructs Management 15(2): 80-100.

वाळवी : एक आर्थिकदृष्ट्या महत्वपूर्ण बहूभक्षी कीटक

शालिनी भोवते

वानिकी अनुसंधान एवं मानव संसाधन विकास केंद्र, छिंदवाडा.

वाळवी सर्व किटका मध्ये जास्त नुकसान करणारे कीट असून हे आयसोप्टेरा वर्गाचे आहे. भारतात वाळवीच्या ३०० प्रजाती असून त्यातील ४० प्रजाती आर्थिकदृष्ट्या झाडांना नुकसान करणाऱ्या आहेत. वाळवी बियाणे, झाडांची मुळे, साल आणि काष्ठागारा मधे संग्रहित केलेल्या लाकडांना खूप नुकसान पोहचवतात. बुरशी वाढवणाऱ्या वाळवी तर शेतीसाठी अधिकच नुकसान- दायक असतात. अश्या प्रकारच्या वाळवी मृत सेंद्रीय पदार्थ,



वाळवी द्वारा ग्रासित झाडे

पिकांचे अवशेष, मातीतील सेंद्रीय खत खातात परंतू असे अन्न उपलब्ध नसेल तर त्या थेट शेतीतील पिकांचे नुकसान करतात. वाळवीचा प्रादुर्भाव झाडांच्या कोणत्याही अवस्थेला असू



वाळवी द्वारा ग्रासित झाडे

शकतो म्हणजेच बियाणा पासून ते प्रौढ झाड तयार होई पर्यंत. वाळवीचा प्रादुर्भाव अतिशय व्यापक आणि विस्तृत असल्यामुळे वेळोवेळी या किटांचे नियंत्रण करणे आवश्यक असते.

वाळवी सामान्यतः झाडांच्या मुळापासून खाणे सुरु करतात. वाळवीचा प्रादुर्भाव असलेल्या जागेवर मातीचे पातळ लेप दिसतात. मुख्यतः ओडॉटोटरमस आणि



कामगार वाळवी

मायक्रोटर्मस जातीच्या वाळवी झाडांना नुकसान पोहचवतात.

वाळवी त्यांच्या राहण्याच्या ठिकाणावरून दोन भागात विभागली जाते.

१) लाकडामधे राहणारी वाळवी - या प्रकारातील वाळवी नेहमी लाकडामधेच वस्ती करतात. (ओले किंवा वाळलेले लाकूड) लाकडांना पोखरून ते त्यात नाली बनवतात.

२) भूमि मधे राहणारी वाळवी - या प्रकारातील वाळवी जमिनी मधे वस्ती करतात कारण त्यांना त्यांच्या नियमित जीवनक्रिये साठी आणि पुनरुत्पादना साठी भूमिची आवश्यकता असते.

वाळवी घरे, शेती, बगीचे आणि वन क्षेत्रातील सर्व प्रकारच्या झाडांना नुकसान पोहचवतात.

जीव परिस्थीतिकी :-

वाळवी एक सामाजिक कीट आहे. ते एकत्र वसाहत करून राहतात. कार्यानुसार त्यांच्यात जातीभेद असतो. कामगार, सैनिक आणि पुनरुत्पादक वाळवी. कामगार वाळवीचे शरीर

पारदर्शक असते परंतु त्यांच्या शरीर रचनेत विभिन्नता असते. सैनिकांच्या शरिराचा आकार कामगार वाळवीच्या तुलनेत जास्त विकसित झालेला असतो. कामगार वाळवीचे कार्य विशिष्ट प्रकारचा निवारा बनविणे, तरुण आणि वसाहतीतील इतर सदस्यासाठी अन्न गोळा करणे आणि त्यांना खाऊ घालणे हे असते. सैनिकांचे कार्य कॉलनीचे रक्षण करण्याचे असते. यातील पुनरुत्पादक जातीला राणी आणि राजा म्हटले जाते. वाळवीच्या अधिकतर प्रजातीमध्ये एकच राणी असते. जी एका सुरक्षित ठिकाणी असते. ती फरटीलाइज अंडी उत्पादन करण्यासाठी आणि कॉलनी



सैनिक वाळवी

व्यवस्थापन हेतु विशेष रसायन (हार्मोन) तयार करण्यासाठी जबाबदार असते. राणी वाळवी

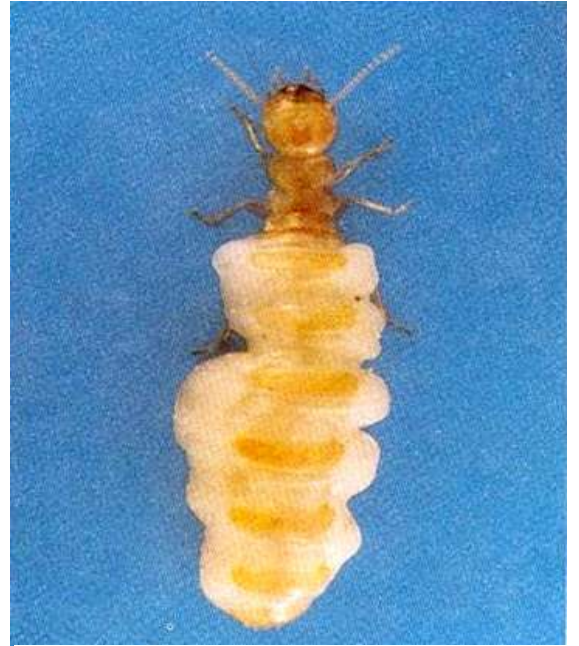


पुनरुत्पादक वाळवी

एका दिवसात ३०,००० पर्यंत अंडे देऊ शकते. पावसळ्याच्या दिवसात भुरकट, काळसर रंगाचे पंखयुक्त कीट जे आकाशात उडतांना दिसतात तेच वाळवीचे पुनरुत्पादन करणारे कीट आहे, जे भविष्यातील राजा किंवा राणी असतात जे नवीन जोडीदार शोधून नवीन वसाहत तयार करतात. बहुतेक वाळवीच्या आतड्यामध्ये एक सींगल सेल जीवजंतू असतो त्याला प्रोटीस्ट म्हणतात, जो पचायला जड असलेल्या सेल्युलोजचे रूपांतर वाळवीसाठी आवश्यक असलेल्या अन्नात करतात. राजा आणि राणी प्री-डायजेस्टेड अन्न तरून वाळवीला खाऊ घालतात. नवीन ब्रूड तयार होईपर्यंत हे अन्न त्यांना दिले जाते. एकदा कामगार तयार झाले की राजा आणि राणी त्यांना अन्न देणे थांबवते. सर्व सामाजिक किटांमध्ये वाळवी हे सर्वात जास्त काळ वास्तव्य करणारे कीट आहे.

नियंत्रण उपाय :-

- १) निरोगी रोपांचा रोपणी मध्ये उपयोग करावा.
- २) जमिनीत सेंद्रीय खतांचा वापर करावा .
- ३) रोपणी तयार करतांना त्यातील कचरा एकत्र करून नष्ट करावा तसेच पीक उत्पादन काळातही शेतातील किंवा रोपवाटिकेतील कचरा, लाकूड तसेच काही मृत वनस्पती नेहमी स्वच्छ करावे.
- ४) मातीमध्ये एरंडेलप्रेस केक/कडूलिंबाच्या निंबोळ्यांचा उपयोग केल्याने वाळवीचा प्रादुर्भाव टळू शकतो.
- ५) एकाच प्रकारचे पीक त्याच जमिनीतून वर्षानुवर्षे घेतले तर त्या जमिनीची रचना आणि कस कमी होतो. अशा परिस्थितीत वाढणारे झाड अशक्त आणि वाळवी साठी संवेदनाक्षम असते त्यामुळे पीक फेरपालट वाळवीचा प्रादुर्भाव कमी करण्यासाठी उपयुक्त करते.
- ६) वाळवीचा प्रभाव कमी करण्यासाठी



राणी वाळवी

नियमित शेतात सिंचन करणे फायदेशीर ठरते.

७) जून ते आगस्ट पर्यंत रोपवाटीकेत प्रकाश सापळ्याच्या मदतीने वाळवीच्या पंखयुक्त जाती पकडून नष्ट केल्या जाऊ शकतात.

८) वाळवी प्रथिनेचे स्रोत असल्यामुळे अनेक कीटक तसेच प्राणी वाळवीचे भक्षण करतात. जसे कोळी, भृंग, बेडूक वगैरे.

९) कीटक रोगजनक टोळ (एनटोमोपॅथोजेनीक निमेटोड्स), बुरशी याद्वारे वाळवीचे जैविक नियंत्रण होऊ शकते. मेटॅरायझियम अनेसोप्ली (जैव स्फोट) बुरशी वाळवीच्या नियंत्रणासाठी एक प्रभावी जैव कीटनाशक आहे.

१०) वनस्पती कीटनाशकांचा वापर – काही वनस्पतीचे भाग आणि अर्क (त्यांच्या गुणधर्मानुसार) नैसर्गिक कीटनाशक म्हणून वापरले जातात. वनस्पतींना बारीक वाटून (grind), पाण्यात उकळून किंवा भिजवून मिश्रण तयार करून ते पिकांवर फवारले जाते.

खालील वनस्पतींच्या पानांचा अर्क वाळवी नियंत्रणासाठी वापरला जाऊ शकतो.

कडुलिंब (*Azadirachta indica*) लसूण (*Allium sativum*) पपई (*Carica papaya*)

रतनज्योत (*Jatropha curcas*) चंदन (*Santalum album*) मेक्सिकन झेंडू (*Tagetes minuta*) एरंडी (*Ricinus communis*) आक (*Calotropis gigantean*) धतुरा (*Datura alba*) लेंटीना (*Lantana camara*) केळी (*Musa paradisiacal*) करंज (*Pongamia pinnata*). ईत्यादि. (Verma et al., 2010)

११) क्लोरपायरीफास ०.१ % प्रती लिटर पाण्यात मिसळवून रोपवाटिकेत किंवा लाकडी सामानाच्या संरक्षणासाठी फवारणी केल्यास वाळवी नियंत्रणासाठी उपयुक्त ठरते.

वृक्षाच्या खोडावर क्लोरपायरीफास ५ मि.ली.थंड चुन्यामधे १ लिटर पाण्यात मिसळवून लावल्यास फायदेशीर ठरते.

वन बियाणाचे क्लोरपायरीफास २० ई.सी.ने उपचारण केल्यास तसेच रूट-शूट किंवा राइजोम क्लोरपायरीफास ०.१ % च्या द्रावणात बुडवून लावल्यास वाळवीचे नियंत्रण होते आणि अंकुरणही वाढते.

A tree needed to be prioritized: *Pterocarpus santalinus*

Milkuri Chiranjeeva Reddy and Mhaiskar Priya Rajendra

College of Forestry, Dr Y S Parmar University of Horticulture and Forestry, Nauni, Himachal Pradesh

Pterocarpus santalinus Linn. f., belonging to family Fabaceae, is a small to medium sized handsome deciduous tree species endemic to Eastern Ghats. This endangered taxon is currently thriving only in Cuddapah and Kurnool districts of Andhra Pradesh [1] and Arcot and Chingelpet districts of Tamil Nadu up to 500 m [2]. This strong light demander which reaches upto 8 m height prefers hilly terrain with hot climate and lateritic loam, quartzite shale or lime stone type well drained stony or gravelly soils. In natural habitats, temperature varies from a minimum of 11^o C to a maximum of 46^o C and rainfall varying from as low as 10 cm to 100 cm indicative of the excessive dry climate prevailing throughout the year. About 82 per cent of the natural population occurs in subsurface formation of quartzites indicating the soil preference for its growth [3]. Its bark is Blackish with pale yellow-pinkish streaks blaze. Wood is extremely hard, dark purple heart-wood with a bitter flavor [4]. Leaves are 3-9 cm & trifoliated with round or heart shaped base with rounded or orbicular tips. Branchlets are drooping and hairless. Flowers are bisexual, stalked in auxiliary simple or sparingly branched racemes, yellow, about 2 cm long, fragrant appears in April-May. Oblilquely-orbicular 3 to 4 cms pods containing one seed of 1 to 1.5 cms long, reddish brown with a smooth leathery testa matures in Ferbruary-May. Almost 900-1400 seeds weigh per kilogram of seed with 50-60 percentage of germination. Wood of *Pterocarpus santalinus* is available in two variants i.e.

wavy grained and straight grained which are having a great demand in domestic as well as international market. The wood of *Pterocarpus santalinus* is mainly used for furniture making and carving, apart from this it is having a great demand for insoluble or sparingly soluble red wood dye known as santalin which is primarily utilized in textile industry for dyeing [5]. The heartwood is also used in folk medicine for treating diabetes, healing various skin diseases, blemishes, ulcers and other ailments [6,7]. Looking into the severe demand for wood, very narrow geographical distribution, slow regeneration and other anthropogenic harassments such as illicit felling, illegal trade and habitat degradation and lose, International Union for Conservation of Nature has categorized *Pterocarpus santalinus* as an endangered species and it has been listed in Convention on International Trade in Endangered Species of Wild Fauna and Flora. Very frequent appearance of news regarding illicit felling and trade of this critically endangered species is alarming. Raising of large-scale plantation using high-end plantation technology in both traditional departmental plantations as well as in agroforestry and Social forestry plantations while simultaneously conserving the existing natural population as a source of genetic material could be a way for saving this species from extinction. On the other hand, studies on ecology, physiology, breeding biology, plantation technology and Silviculture should be greatly developed. Similar agro-

ecological regions may be identified and tested for raising plantations of *Pterocarpus santalinus* as well. As a final word, creating public awareness regarding the need for conservation of *Pterocarpus santalinus* among the masses is must for successful conservation of this species.

Reference

1. Babar S, Giriraj, Amarnath R C S, Jentsch A, Sudhakar S (2012) Species distribution models: ecological explanation and prediction of an endemic and endangered plant species (*Pterocarpus santalinus* L.f.). *Current Science*. 102(8):1157-1165.
2. GOI (Government of India) (2014) Government of India. Ministry of Environment and Forests Publications. Red Sanders. Availabe at [http:// moef.nic.in / downloads / public-information / Chap-8-new.pdf](http://moef.nic.in/downloads/public-information/Chap-8-new.pdf).
3. Arunkumar A N, Joshi G (2014) *Pterocarpus santalinus* (Red Sanders) an Endemic, Endangered Tree of India: Current Status, Improvement and the Future. *Journal of Tropical Forestry and Environment* 4(02) 1-10.
4. Dhanabal P, Syamala, Elango K, Suresh B (2007) Protective and Therapeutic Effects of the Indian Medicinal Plant *Pterocarpus santalinus* on D-Galactosamine-induced Liver Damage. *Asian Journal of Traditional Medicines*. 2 (2).
5. Ferreira E S B, Alison N, Hulme A N, Hamish, McNab H, Quye A (2004) The natural constituents of historical textile dyes. *Chemical Society Reviews*. 33: 329-336.
6. Behera S K, Panda A, and Misra M K (2006) Medicinal plants used by the Kandhas of Kandhamal district of Orissa. *Indian Journal of Traditional Knowledge*. 5: 519-528.
7. Vedavathy S, Sudhakar A and Mrudula V (1997) Tribal medicinal plants of Chittoor Ancient. *Science of Life*. 26: 307-331.

जबलपुर के गढ़ा क्षेत्र की प्राकृतिक वनस्पतियाँ: एक धरोहर

सौरभ दुबे

उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

जबलपुर शहर जितना अपने इतिहास से समृद्ध है, उतना ही वह अपने प्राकृतिक खजाने से भी समृद्ध है। इसके पहाड़ी क्षेत्र इसे और भी समृद्ध बनाते हैं, जिनका विस्तार मुख्यतः गढ़ा क्षेत्र से लेकर मदन महल पहाड़ियों एवं बरगी पहाड़ियों तक फैला हुआ है, जो कि अपने आप में प्रकृति के अनुपम रंगों को समेटे हुए हैं। इन पहाड़ी क्षेत्र में आबादी का प्रभाव बहुत कम है इसलिए यहाँ अनेको किस्म के पौधे व जीव-जन्तु आज भी प्राकृतिक रूप से पाए जाते हैं। इन पहाड़ियों पर प्राकृतिक तथा रानी दुर्गावती द्वारा बनवाये हुए कई तालाब भी हैं, जो इस परिआवास को और भी समृद्ध बना देते हैं।



खजूर (*Phoenix dactylifera*)

यहाँ मुख्यतः छोटे तथा मझोले किस्म के वृक्ष पाए जाते हैं तथा औषधीय पौधों की बहुत सी किस्में भी पायी जाती हैं। यहाँ जंगली फलों के पौधें जैसे- अकोल (*Alangium lamarckii*) एवम तेन्दु (*Diospyros melanoxylon*) बहुतायत में पाये जाते हैं। साथ ही साथ देसी फलदार वृक्ष जैसे सीताफल (*Annona squamosa*), आम



गढ़ा क्षेत्र की प्राकृतिक वनस्पतियाँ

(*Mangifera indica*), इमली (*Tamarindus indica*) तथा खजूर (*Phoenix dactylifera*) भी मौजूद हैं। गुलर (*Ficus glomerata*) और पाकर (*Ficus lacor*) भी चट्टानों के बीच अपनी जड़े जमाए यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं। जंगल की इस प्राकृतिक वनस्पति पर बंदर, लंगूर, पहाड़ी चूहे, गिलहरी और अनेक किस्म के पक्षी निर्भर रहते हैं। कुछ महत्वपूर्ण वनौषधियाँ सीमित पहाड़ियों पर ही उगती हैं, जैसे- मरोड़फली



दुधि (*Wrightia tinctoria*)

(*Helicteres isora*), अमलतास (*Cassia fistula*), पलास (*Butea monosperma*), करंज (*Pongamia pinnata*) तथा देशी बाँस (*Dendrocalamus strictus*) एवं शाकीय पौधें

जैसे दुधि (*Wrightia tinctoria*) सम्पूर्ण क्षेत्र में आच्छादित हैं।



अकरकरा (*Spilenthus sp.*)

स्थानीय लोग बहुत से घरेलु उपचार में काम आने वाली इन औषधियों के लिये इन पहाड़ियों पर ही निर्भर रहते हैं, जैसे- बेकल (*Gymnosporia montana*) खाँसी दूर करने में, मरोड़फली (*Helicteres isora*) पेट की मरोड़ व दर्द में, गुडमार (*Gymnema sylvestre*) – मधुमेह में, भुईआँवला (*Phyllanthus amarus*) – पीलिया दूर करने में, महाबला (*Sida acuta*), बला (*Sida cordifolia*) और अतिबला (*Sida indica*) का प्रयोग सर्पदंश, गठियां और ज्वरनाशक के रूप में



कसई (*Bridelio retusa*)

किया जाता है। इसी प्रकार अडूसा (*Adhatoda vasica*), गोरखमुंडी (*Sphaeranthus Indicus*), अनंतमूल (*Hemidesmus indicus*), निर्गुंडी (*Vitex negundo*), गोखरु (*Tribulus terrestris*), अकरकरा (*Spilenthus sp.*) आदि भी अन्य कई विशेष बीमारियों के इलाज में उपयोग में लाये जाते हैं, जो प्रकृति से प्राप्त उपहार हैं।

इसके अतिरिक्त न केवल वृक्ष बल्कि कुछ महत्वपूर्ण लताएं जिनमें कुछ तो औषधीय गुणों से युक्त तथा ज्यादातर समय हरी-भरी बनी रहती हैं, जैसे- गिलोय या अमृतबेल (*Tinospora cordifolia*), अमरबेल (*Cuscuta*), और गुडमार तथा कुछ अन्य जैसे द्वीमरबेल (*Ichnocarpus frutescens*), उलटकाँटा



अकोल (*Alangium lamarckii*)

(*Capparis horrida*), केवाँच (*Mucuna pruriens*), मकोर (*Ziziphus oenoplia*) आदि भी बहुतायत में यहाँ पायी जाती हैं। कुछ अन्य कंद वाली वनस्पतियाँ जो केवल वर्षा में ही उगती हैं, जैसे- बैचाँदी (*Dioscorea dremona*, Roxb), काली मूसली (*Curculigi orchiodes*), जिमीकंद (*Amorphophallus paeoniifolius*) आदि भी यहाँ पायी जाती हैं तथा इनमें से ज्यादातर वनस्पतियों के कंद साल भर ऊपरी भाग मर जाने के बाद भी जीवित बने रहते हैं जोकि जंगली सुअर एवं खरगोश आदि को सूखे व कम वनस्पतियों वाले दिनों में भोजन उपलब्ध कराते हैं।



देशी बाँस (*Dendrocalamus strictus*)



गुडमार (*Gymnema sylvestre*)

इन पहाड़ियों पर तालाब और झरनों के आसपास तथा पहाड़ियों के तलहटी में जहाँ पानी का भराव होता है वहाँ भृंगराज (*Eclipta prostrata*), नागरमोथा (*Cyperus scariosus*), नागबेल तथा सफेद कुमुदनी, कम पाया जाने



उलटकाँटा (*Capparis horrida*)

वाला गुलाबी कमल (*Nelumbo nucifera*) आदि भी मिलते हैं। पानी के ऊपर भी कई प्रकार की

वनस्पतियाँ जैसे जलखुम्भी (*Pistia stratiotes*), जलकुंभी (*Eichhornia crassipes*), आदि भी अपनी मौजूदगी दर्ज कराती हैं, जो कि जल पक्षियों के लिये आवास तथा आहार प्रदान करते हैं। पहाड़ियों के तल पर घास की कई प्रजातियाँ जैसे गुन्हेर (*Themeda quadrivalvis*), गरु (*Coix- gigantea*), दूब (*Cynodon dactylon*), काँस (*Saccharum spontaneum*), भुरभुसी (*Eragrostis tenella*) जो कि मवेशियों सहित यहाँ रहने वाले छोटे शाकाहारी जानवरों को चारा उपलब्ध कराती हैं।

इस प्राकृतिक परिआवास में ऊँचे पहाड़ होने के



संग्राम सागर में जलकुंभी (*Eichhornia crassipes*)

कारण आबादी तथा मवेशियों का दबाव कम है, जिसका फायदा सीधे तौर पर यहाँ की वनस्पतिक विविधता को मिलता है। अतः यह आवश्यक है कि हर नागरिक इस प्राकृतिक धरोहर के संरक्षण में सतत प्रयास रत रहे ताकि यह क्षेत्र हमेशा आने वाली पीढ़ियों के लिये भी समृद्ध हो सके।

Know Your Biodiversity

Hedychium coronarium

Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram
Tropical Forest Research Institute, Jabalpur



Hedychium coronarium is commonly known as Butterfly ginger lily, Gulbakawali and White ginger lily. It is very beautiful fragrant tropical perennial and cousin of culinary ginger *Zingiber officinale*. It belongs to family Zingiberaceae. *Hedychium coronarium* is national flower of Cuba. It is a popular landscape plant throughout Florida, the Gulf Coast, California, the Caribbean and tropical and subtropical areas worldwide. It is originally from the Himalayas region of Nepal and India where it is known as *dolan champa*. Butterfly Ginger lily "*Hedychium coronarium*" is found in moist deciduous forest of central India and also grown as garden plant.

Gulbakawali is perennial herb with lance shaped and sharp pointed leaves. Flowers fragrant white in dense long spikes and clusters of flowers look like butterflies. It flowers from August to October. Because of its beauty and sweet fragrance it is popular garden plant and widely available in nurseries, garden centres, markets and are often swapped among gardeners. It is

generally found in moist places along streams and in forest.

The rhizomes are edible and have been used for starch extraction. They have also been used a source of cellulose for paper manufacture and fibre for textiles. The flowers are also eaten, lightly steamed and served with a chilli sauce in Thailand. Rhizome and stem bases are diuretic, hypertensive, antidiabetic, antisiphilitic and antifungal. The rhizomes are also the source of essential oil that is used in perfumery and pharmaceutical preparations. The rhizome of *Hedychium coronarium* is used in Chinese medicine and has been prescribed and used in the treatment of headache, lancinating pain, diabetes, inflammatory and intense pain due to rheumatism, etc. It also has uses as a tonic, excitant and anti-rheumatic in the Ayurvedic system. It is also used by Manipuri women to make a floral ornament.



***Bos gaurus* (Gaur)**

Due to restricted distribution of the plant, its over exploitation and harvest for medicine and trade and land clearing it is disappearing from its natural habitat. As

result the plant has become endangered in Madhya Pradesh, Central India and other parts. It has become Red listed in Manipur. Regeneration and reestablishment of plant through in situ conservation should be most effective biological method to conserve its diversity.

Bos gaurus is commonly known as Gaur. It belongs to family Bovidae. Gaur is one of the largest ungulates of Asian forest. Gaur is distributed in South and South East Asia from India to peninsular Malaysia, occurring in India, Nepal, Bhutan, Bangladesh, Myanmar, Thailand, China, Laos, Cambodia, Vietnam and Malaysia. The habitat type of this region consists of mainly tropical wet evergreen forest, tropical dry deciduous forest and scrub forest. The estimated population is around 13,000 to 30,000 with approximately 85 per cent of population being present in India. In central India has the highest gaur habitat with some 83,000 km². In central India, the gaur extends from central parts of the Satpura Range to the Chotanagpur Plateau and then to the northern ranges of the Eastern Ghats.

Gaur is the tallest living Ox and one of the four heaviest land mammals. Gaur bulls weigh 600- 1000 kg. Gaurs are sexually dimorphic. Both sexes have horns. In males the horns are larger especially at base with more outward swath and the curving is less at the tips. Horns of young bulls are smooth, yellow-orange in colour and tipped with black, whereas the old bulls are corrugated a dull olive in colour.

Gaur feeds on variety of plants indicating the polypagous feeding habit of this animal. Thus the varied food species selection enable the species to colonize a wide range of vegetation types from dry thorn forest to wet evergreen forests. The food plants from the families of Poaceae,

Fabaceae, Asteraceae and Malvaceae collectively form the major food species.

Habitat loss and fragmentation has been largely responsible for the large scale decline of gaur range and it remains a major threat to gaur conservation in Asia. Gaur is vulnerable to epidemic diseases of Foot and Mouth Disease, Anthrax and Rinderpest. Poaching of gaur for meat and horns is one of the serious threats for conservation of gaur even in protected areas.

Bos gaurus is an endangered animal per Schedule – I of the Indian Wildlife Protection Act (1972). It is included in Appendix I of the Conservation on International trade in Endangered Species of Wild Fauna and Flora (CITES) and categorized as Vulnerable by the International Union for Conservation of Nature and Natural Resources (IUCN). The known extinction of gaur from three protected areas in India (Thattakad Wildlife Sanctuary, Kerala; Bhandhargarh Tiger Reserve and Kanger Valley National Park, Madhya Pradesh) in the last two decades shows that this species is losing ground very fast and urgent measures are required reintroduction and reestablishment.

Tropical Forest Research Institute



Published by:



Tropical Forest Research Institute

P.O. RFRC, Mandla Road

Jabalpur – 482021 M.P. India

Phone: 91-761-2840484

Fax: 91-761-2840484

E-mail: vansangyan_tfri@icfre.org

Visit us at: <http://tfri.icfre.org> or <http://tfri.icfre.gov.in>